बावड़ी

हिन्दी ADDA

कविता

बावड़ी

सीढ़ीदर सीढ़ी उतरती मैं हाँफती हूँ। दिन में भी ऐसा घुप्प अँधेरा कि उँगलियों को उँगलियाँ न दिखाई दें... कब तक, आखिर कब तक चलती रहूँगी इस तरह... किस

सफर में हूँ मैं कि दहशत है - रगो रेशे में। अब आखिर कहाँ जाना है... कितना भीतर... कि अंत क्यों नहीं आता आखिर। कैसी तलाश है यह किसकी तलाश है आखिर...?

कौन सा सपना है यह जो हर रात मेरी नींद में बदस्तूर जागता है, खँगाल कर ले आता है मेरे भीतर का वह कुछ जो कि मुझे पता ही नहीं, कि है भी मेरे भीतर। पानी... पानी चाहिए मुझे। पर पानी न जाने कहाँ विलुप्त... कई दृश्य भय बन कर काँप उठते हैं मेरे रोम-रोम से जैसे मेरा भय बह निकला हो। आत्मा सूखी डिहाईड्रेड... मैं खुद जैसे निचुड़ी जा रही हूँ।

अनी अन्वी! मेरी आवाज किसी भूत बँगले की तरह गूँजती है उस सन्नाटे में... लौट आती है फिर मेरे ही पास। मैं दौड़ रही हूँ। हलक सूख रही है जीभ लटपटाई हुई, कि तभी अनी कहती है मुझे झकझोर कर - मम्मा पानी चाहिए? इसी टेबल पर तो है पानी। आप ही ने तो सोते वक्त रखा था। मैं उसे गले से लगा लेती हूँ। मेरी प्यास बुझ गई हो जैसे।

अनी की आँखें भी ठीक उसी की तरह हैं वाचाल, बातूनी। उसकी एक-एक चमक में हजारों किस्से। किस्सों में भी कितने किस्सेतर अफसाने... वह ठीक मेरे उलट है, यह अम्मा कहती है... यह सब कहते हैं। अन्वी कहीं ठहरती नहीं, टिकती नहीं... कभी भी, किसी हाल में, किसी के भी कहने से मुझे भी पसंद है यह। मैं उसको इसी तरह निडर बनाए रखना चाहती हूँ और उसे इसी तरह बनाए रखने के इसी उपक्रम में न जाने कितने डर, कितना संशय, कितनी अनाम पीड़ाएँ... यह शायद माँ हो कर ही समझा जा सकता है।

वे कहते हैं अक्सर, हद करती हो तुम भी। बेटी आँखों से ओझल नहीं हुई कि... उसे जीने दो उसका बचपन। इस तरह तो... सोचती हूँ मैं भी, इस तरह तो... जानती हूँ मैं भी इस तरह तो...

पर चारा कोई और नहीं हैं मेरे पास। मेरा भय दुःस्वप्न बन कर पीछा करता रहता है हमेशा। धुर जाड़े की रातों में पसीने से नहाई हुई उठती हूँ मैं और जानलेवा गर्मी में भी भय से थरथराती हुई। साँसें धीरे-धीरे थिर होती हैं। बगल में सोई अनी को नींद में

मुस्कराते देख कर, कभी अपने गले में उसे गलबहियाँ डाले सोई जान कर, मैं अपनी बाँहें उसके इर्द-गिर्द कस कर लपेट लेती हूँ, इतना कस कर कि नींद में भी कई बार कसमसा उठती है वह। ...मुझे लगता है कि अब सुरक्षित है वह... कि अब कोई डर नहीं। फिर भी नींद है कि आते-आते आती है और स्वप्न है कि जाते-जाते भी नहीं जाता।

मेरा पाँव अँधेरे में किसी ठोस चीज से टकराया है। चीख निकलती है बहुत तेज, पर जैसे गले में ही रुँध जाती है। सबकुछ बिल्कुल उसी सपने जैसा। मेरी साँस-साँस रो रही है। मेरा रोम-रोम जैसे किसी अज्ञात पीड़ा से लिथड़ा हुआ। तलगृह में जैसे और अँधेरा हो आया हो, घना घनघोर, घुप्प अँधेरा। अब अपना ही भान कहाँ रह गया है। अन्वी, अनी, मेरी प्यारी अनी... मैं अँधेरे में टटोलती-टोहती जब किसी भी ज्ञात-अज्ञात वस्तु से टकराती हूँ भीतर तक सिहर उठती हूँ। सिहरना सुकून बनता है पर थोड़ा ठहर कर। कुछ नहीं, कुछ भी नही, कुछ भी तो नहीं। सुकून आता है और फिर बिला जाता है। कहाँ हैं कहाँ है मेरी बिटिया अनी... मैं हमेशा की तरह उस सपने की गिरफ्त में हूँ। और हमेशा की तरह ही सोचना चाहती हूँ, समझाना चाहती हूँ खुद को, बेकार ही डरती हूँ मैं। ऐसा कभी कुछ नहीं हो सकता उसके साथ...

...बच्ची जरूर है अनी पर समझदार भी है। उसे बनाया है मैंने समझदार। मैं कहती रहती हूँ उससे, बेटा कोई भी अगर प्यार करते-करते टच करना चाहे तो मत करने देना। किसी को किस्सू भी मत करने देना चेहरे पर, लिप्स पर तो कभी नहीं... डाँट देना उसे... समझीं आप? मैं जोड़ती हूँ मम्मा, पापा और अपने परिवार के लोगों को छोड़ कर। फिर कहते-कहते ठिठकती हूँ इस 'परिवार' शब्द पर। नहीं, सिर्फ मम्मा-पापा। वह चुप सुनती रहती है सब हमेशा के बिल्कुल विपरीत... बेटा, मैं आपको कुछ बता रही हूँ न सुन रही हैं न आप? हाँ, माँ... वह अपनी चंचल नजरों से थाहती रहती है आस पास... कुछ अनोखा, कुछ अलग-सा, नटखट-सा करने, हो सकने की संभावना की तलाश में... मुझे लगता है मेरी बातें तो बस यूँ ही... बेटा पहले मेरी बात पर ध्यान दीजिए। सुनिए प्लीज... सुन तो रही हूँ मम्मा ... वह खीज भरे स्वरों में कहती है... इतने-इतने खिलौनों के बीच माँ की ये बेकार की बातें, नसीहतें।

पहली बार मन तभी हिला था क्षण भर को, जब तीन-साढ़े तीन की ही थी वह। टाउनशिप की अपनी सुविधाएँ... क्लब, जिम, किड्स रूम, लायब्रेरी... मैं शाम को थोड़ा वक्त निकाल लेती हूँ... अन्वी खेलती रहती है किड्स रूम में। मैं थोड़ा पढ़ लेती हूँ... पर पढ़ते-पढ़ते साँस अटकी होती है, बस अनी में। उठ-उठ कर झाँक आती हूँ। वह खेलने में मग्न होती है, दूसरे बच्चों के साथ। अन्वी को किड्स रूम का आकर्षण खींचता है। उसकी आँखों की चमक में दिखलाई देते हैं मुझे - 'सी-सॉ', 'स्लाइड्स', 'रोप्स' और झूले। उसके हाथों की लहक में होती है नन्हें चेस, टेबल टेनिस, कैरम, पजल्स और लूडो से खेलने की ललक। चीजों को हासिल करने की नन्हीं कोशिशें भी। वह दूसरे बच्चों से कभी-कभी लड़ती भी है। कभी-कभी रोती-रोती आती है मेरे पास... माँ गुल्लू ने मुझ से पिंग-पाँग छीन लिया... एंजल मुझे स्लाइड्स पर फिसलने नहीं देती। मैं झगड़े को सुलझाने की कोशिश में कभी कामयाब होती हूँ, कभी नाकामयाब। मैंने एक तरकीब निकाली है। किड्स रूम खुलते-खुलते ही मैं अनी को ले कर पहुँच जाती हूँ कि दूसरा कोई इतनी जल्दी कहाँ आ पाएगा। अनी खुश रहे, इन्ज्वाय करे, बस। और अनी भी शाम होते ही पूछती है, मम्मा लायब्रेरी नहीं जाना? मैं मुस्करा कर कहती हूँ, जाना है मेरी बच्ची।

...जल्दी-जल्दी पहुँचने की यही ललक उस दिन थिराती है, डर बन कर बैठ जाती है मेरे भीतर और तभी शुरू होती है अंतहीन दुःस्वप्नों की यह श्रृंखला। मैं पढ़ रही हूँ आदतन, डूब कर, भूल कर सबकुछ... अन्वी नहीं आती देर तक। मैं सोचती हूँ खेल रही होगी वह। इस बियाबान में यही तो एक जगह है जहाँ कुछ ताजी पत्रिकाओं का चेहरा देख पाती हूँ। फिर थोड़ी देर को ही सही, अन्वी से अलग हो कर अपना कुछ लिख-पढ़ पाना। अन्वी नहीं आई है मेरे पास देर से, पर मुझे सुकून ही है। तभी, लिखते-लिखते थमती हूँ मैं। मेरे भीतर जैसे कुछ कौंधा हो। चौंकती हूँ मैं, मैं तेज कदमों से निकलती हूँ। बस चार कदमों की दूरी पर है किड्स रूम। पर मुझे लगता है न जाने कितनी दूर है वह... यह दरवाजा क्यों भिड़ा रखा है अनी ने... अनी बेटा, दरवाजा क्यों बंद किया, खोलो... अनी कुछ बोलती नहीं। मैं सहमी सी अनी को जल्दी से अपनी गोद में समेट लेती हूँ... 'संजय तुम? तुम यहाँ क्या कर रहे थे दरवाजा क्यों बंद था...'

'अंदर ठंडी हवा आ रही थी...'

'तो...?' मेरी आवाज तल्ख है।

'और बगल के कमरे में पार्टी चल रही है। बच्चे आ कर सारा सामान तितर-बितर कर देते हैं...' मेरी आवाज अब भी सम पर नहीं है... 'तो? ठीक करो। बच्चे तो खेलेंगे ही न तुम्हारा काम है ठीक करना।'

उसका सहमापन मेरी आवाज के तीखेपन को कुछ और कड़वाता है। क्षण भर को सोचती हूँ मैं, शायद ठीक कह रहा है यह तभी तो इतना... पर भीतर से आती दूसरी आवाज जैसे मेरे भय में और पलीता लगा देती है। सहमता वह है जिसके भीतर कुछ गलत हो। वह पीठ फेर लेता है सामान ठीक करने के उपक्रम में लग जाता है। मैं निकलते-निकलते भी कहती हूँ... 'देखो आगे से कभी कोई बच्चा खेलता हो तो दरवाजा बंद नहीं होना चाहिए...' मैं अनी को लिए-लिए लायब्रेरी से अपना बैग उठाती हूँ और... मैं घर नहीं जाती, नीचे लॉन में लगे झूले पर आ बैठती हूँ। अन्वी बहुत सहमी सी है। क्यों... मेरा भय या कि माँ का यह रौद्र रूप देख कर... मै टटोलना चाहती हूँ उसे... पर कैसे? मै पूछती हूँ - 'बेटा वो अंकल वहाँ क्या कर रहे थे?' अनि कुछ भी नहीं कहती...

मैं फिर उससे पूछती हूँ... 'बैठे हुए थे? खेल रहे थे आपके साथ...? ट्वायज से या फिर...'

अनि छोटा सा उत्तर देती है - 'नहीं।'

'फिर...?' वह चुप है...

'बोलिए बेटा मम्मा तो आपकी फ्रेंड है न... मम्मा से तो आप सबकुछ बताते हैं...'

'वो...' अनी कह कर रुकती है थोड़ी देर को...।

'वो क्या बेटा...? बोलिए...'

'अंकल मुझे प्यार कर रहे थे...' 'प्यार' शब्द मेरे भीतर गर्म लावे की तरह बहता है... यह ताप जैसे सहने लायक ही न हो...

'प्यार, कैसा प्यार...?' शायद मैं बच्ची पर चीखी हूँ... 'बोलिए बेटा, बोलिए कुछ... मम्मा से नहीं बताएँगी? आप उनके इतने पास क्यों बैठी हुई थी?'

'वो बातें कर रहे थे मुझसे...

'कौन सी बातें...?'

'कुछ नहीं मम्मा, बस ऐसे ही...'

मैं फिर नहीं कहती उससे कुछ। एक चॉकलेट ले कर आती हूँ उसके लिए। सोचती हूँ शायद वह अपने आप ही बताए कुछ।

...मैं सोचती हूँ, शायद अन्वी ठीक कह रही हो... शायद वह बस बातें कर रहा हो उससे... शायद मैं बेबात डर रही हूँ। कुछ होता तो अन्वी कहती नही?

शेखर को मैं फोन करती हूँ - 'जल्दी आओ...'

'कोई खास बात...? मैं साढ़े आठ तक घर आ जाऊँगा...'

'नहीं, अभी आओ। और घर नहीं, क्लब। मैं यहीं हूँ।'

शेखर का इंतजार करती मैं अन्वी को दूसरे बच्चों के साथ खेलने के लिए भेजती हूँ। शेखर आते हैं। मेरी बातें सुनते हैं ध्यान से। चुपचाप सुनते रहते हैं, कहते कुछ भी नहीं। मैं फिर चिढ़ उठती हूँ - 'बोल क्यों नहीं रहे कुछ?'

'क्या बोलूँ, यह सब तुम्हारा वहम है। इन टेंपररी स्टाफ की इतनी हिम्मत नहीं है कि...। और फिर मैं तो क्लब का सेक्रेटरी हूँ। वह ऐसा नहीं कर सकता, बस थोड़ा खयाल रखता है मेरे कारण। तुम बस ऐसे ही...'

मैं खीज और चिढ़ के आवेग से जैसे गुस्से से बाहर हो रही हूँ... 'ऐसा नहीं कर सकता... यह विश्वास कितना घातक हो सकता है तुम सोच भी नहीं सकते। इन छोटी-छोटी चीजों की अनदेखी करना दर असल हमारे डरपोक स्वभाव का ही परिचायक है। हम बुरी या फिर अप्रिय बातों के बारे में कुछ सोचना ही नहीं चाहते...। इसे स्वीकार करना

हमारे लिए मुश्किल होता है। अघटित घटित हो ले वह ठीक, पर उसे...। ऐसा नहीं कर सकता क्यों? ऐसे ही टेंपररी टाइप के लोग जो अपनी पत्नी और परिवार से दूर रह कर दो पैसे कमा रहे हैं, उनके इन दुष्कर्मों में लिप्त होने की संभावना ज्यादा होती है। ज्यादा पैसे नहीं, सुविधा नहीं, मनोरंजन का कोई साधन नहीं, शिक्षा नहीं और ढेर सारा खाली वक्त... शैतान का घर तो यह हमारा दिमाग ही होता है। रोज अखबार और टीवी में खबरें देखते हो पर...'

'मैं तुमसे बहस नहीं करना चाहता। मेरी बेटी ठीक है, नॉर्मल है और मैं क्यों मानूँ तुम्हारी कोई उथली सी बात?' शेखर उठ कर बेटी को बुलाने चल देते हैं...

मैं भन्नाई सी उठ खड़ी होती हूँ। बेटी को लेती हूँ उनसे और चल देती हूँ इस पसोपेश के साथ कि शेखर नहीं मानेंगे ऐसा कुछ। वह मेरे साथ नहीं खड़े होंगे बेटी की सुरक्षा के इस मोर्चे पर। वे स्त्री नहीं हैं और औरतों के इस भय को नहीं समझ सकते वे। मुझे ही अन्वी की परछाईं बन कर रहना होगा, चलना होगा उसके साथ। परछाईं की प्रवृत्ति से भी इतर रहना होगा उसके साथ। धूप और साए, दिन और रात, सुबह और शाम सब में। उससे बनाना होगा वह रिश्ता कि कुछ भी... मेरी आँखों से अदेखा न छूट जाए। कोई गुंजाइश ही कहीं छूटी न रह जाए।

मैं उस रात पहली बार अनी को एक पल को भी अपनी बाँहों से अलग नहीं होने देती...।

...उसी रात वह सपना जन्मा था मेरे भीतर, फिर पला-बढ़ा था। मेरी रातों के सुकून को किसी बाघ की तरह झपट्टा मार कर ले भागता। नींद के नाम से मैं डरने लगी थी उसी दिन से। जागना अच्छा लगने लगा था, सुकूनदेह। मैं ढूँढ़-ढूँढ़ कर काम निकालती, फिर निपटाती उसे देर रात तक। फिर कोई नया काम। सोना जब मजबूरी हो जाता तो सो लेती पर वैसे ही बेहिस, बेमन। आँखें दिन भर जले तो जले, थकान पूरे वजूद पर हावी हो तो हो। चेहरा चाहे जितना बुझा-बुझा लगे लेकिन कोई बात नहीं...

...मै सोचती हूँ, खूब सोचती हूँ इस सपने की बाबत और नकारना चाहती हूँ इसका अस्तित्व। तर्क ढूँढ़ती हूँ, समझाती हूँ खुद को चाहे वे तर्क कितने ही खोखले हों, कितने

ही कमजोर। मैं कई वर्ष पीछे देखती हूँ... सपने में दिखनेवाली नीचे की ओर निरंतर जाती हुई वे सीढ़ियाँ... मुझे बावड़ियों की याद आती है...

दिल्ली में मेरे घूमने की मनपसंद जगहें, बावड़ियाँ... मतलब वो सीढ़ीदार कुएँ जिनका इस्तेमाल प्राचीन काल में जल संरक्षण और उपयोग के लिए होता था। मुगल काल और उससे भी पहले दिल्ली में लोगों की पानी संबंधी समस्याओं को दूर करने के लिए बादशाहों और राजाओं ने बावड़ियों का निर्माण करवाया, जहाँ मुसाफिर न सिर्फ अपनी प्यास बुझाते बल्कि आराम भी कर सकते थे।

हैली रोड की अग्रसेन की बावड़ी, कहते हैं, महाभारत काल में बनवाई गई वह बहुमंजिली बावड़ी है जो मुझे कभी भी किसी राजमहल से कम नहीं दिखी। इसकी कारीगरी मुझे मंत्रमुग्ध करती है। पंचमंजिले बावड़ी में छत की जगह छायादार नीम का बड़ा-सा पेड़, हर स्तर का आधा बुर्जीदार हिस्सा, लाल-पत्थर की इसकी सीढ़ियाँ सब मुझे बेतरह खींचती थीं। शेखर कहते भी थे तब, क्या मिलता है तुम्हें इस खंडहर में... पानी... कहाँ है पानी... वह नीचे गँदला सा कुछ? मै माँ से सुना हुआ मुहावरा दुहरा देती... 'गुजरा हुआ फिर भी मसूदाबाद है...' और सोचती हूँ मसूदाबाद से मतलब मुर्शिदाबाद, मुरादाबाद या कि कुछ और सोचती रहती।

पानी के लिए मेरी ललक से शेखर तब भी वाकिफ थे। नहाना, तैरना कभी मुझे अच्छा नहीं लगा। पर पैर डाल कर बैठना, पानी में खड़े होना मुझे बेहद पसंद है। पानी मुझे खींचता है बेतरह। सड़क मार्ग से जाते हुए अब भी कहीं छोटा सा जलाशय या कि पोखर मुझसे मिलने की जिद ठान लेता है और मैं बीच राह उतरने की। सारी थकान, सारी बेचैनी जैसे पानी खींच ले जाता है, मुझे मुक्त करता हुआ, नई जिंदगी देता हुआ। मुझे पानी से मतलब है, सिर्फ पानी से...

...वह दिल्ली थी। गरम, तपती, जलती, झुलसती दिल्ली और वहीं उन बावड़ियों का होना मेरे लिए राहत था। फ्रीलांसिंग के उस दौर में कहीं से कहीं जाती, गर्मी की दुपहरियों में रुक जाती ठिठक कर, खास कर कनॉट प्लेस या जनपथ में हुई तो अग्रसेन की बावड़ी पर। उनसे मिलना वैसा ही था जैसे अजनबी शहर में बहुत अपने से मिलना। सुख-दुख बतिया कर हल्का हो लेना। अतीत की कहानियाँ समेटे बावड़ियाँ

मुझे नानी-दादी की तरह प्यारी लगतीं, अपनत्व और ममत्व से भरी हुई। अपने प्यार की छाँह में सबको समेट लेने को आतुर। राजों की बावड़ी (मेहरौली), खारी बावड़ी (चाँदनी चौक), फिरोजशाह कोटला की बावड़ियाँ... मैं तलाशती रहती अपने लिए एक नया ठौर। एक नई पनाहगाह। मुझे लगता और हमेशा लगता दिल्ली को किलों और मकबरों का शहर कहने के बजाय बावड़ियों का शहर भी कह सकते हैं और खूब-खूब कह सकते हैं...

...तो मुझे लगता और खूब-खूब लगता यह सपना कहीं उन बावड़ियों से हो कर चला आया है मुझ तक। वही बुर्जियाँ, वही मेहराब, वही सीढ़ियाँ और वही मेरी बेचैनी और छटपटाहट। जब कभी किसी अपने से दूर हो जाएँ तो पुकारते ही हैं वे। छटपटाती ही है आत्मा उनकी खातिर।

चारु कहती थी तब, तुम्हें डर नहीं लगता ऐसे एकांत में अकेले चल देने से, इन सुनसान जगहों पर। सेफ कहाँ होती हैं ऐसी जगहें, ऐसे मत जाया करो। मैं हँस देती, बस... अंदर का सन्नाटा बाहर के सन्नाटे से ज्यादा भयावह होता है।

पालिका बाजार के सेंट्रल पार्क में शाम दोपहर गुटर गूँ करते जोड़े, जंतर-मंतर के कोने-कंदरे में बैठी आपस में मशगूल जोड़ियाँ... पर पता नहीं क्यों, मैं उनमें से एक नहीं थी, न होना चाहती थी। शेखर के साथ होने के बावजूद मैं जिद करके अग्रसेन की बावड़ी ही जाती, और जाती तो जाती। शेखर भी तब साथ-साथ चल देते, पर आज की तरह कुढ़ते-खीजते हुए नहीं बल्कि दिल से।

मैं सोचती हूँ और खूब-खूब सोचती हूँ इस सपने का मतलब? कि तभी कुछ याद आता है... ठीक शादी से पहले की बात... शेखर के बहुत दोस्त थे, मेरे कम। शेखर बोलते थे, बातें करते थे और मैं घुन्नी... ऐसे में ही प्रशांत ने दोस्ती का हाथ बढ़ाया था। मैंने दोस्ती की थी, पर लक्ष्मण रेखा तय करते हुए। उसे शेखर के बारे में बताया भी था धीरे-धीरे... अपनी वर्षों पुरानी दोस्ती...। हमारे सपने... हमारा परिवार... हमारी मुश्किलें... हमारी ख्वाहिशें... और एक दोस्त की तरह वह सबकुछ सुनता, दिल से सुनता। और मुझे लगता कि मैं बोल भी सकती हूँ किसी से इस तरह खुल कर। उस दिन जब मैं हिंदुस्तान के दफ्तर से लौट रही थी, वह अपने ऑफिस से आधे दिन की

छुट्टी ले कर आ गया था। उसी ने कहा था - इंडिया गेट चलते हैं, धूप में बैठ कर अच्छा लगेगा। मैं अपना हक दिखाते हुए कह गई थी नहीं, अग्रसेन की बावड़ी... इतिहास का वह विद्यार्थी चौंक पड़ा था क्षण भर को, यह कहाँ है? मैं उसी हक से उसकी हथेलियाँ खींचती हुई कहती हूँ, मैं ले चलती हूँ न। वहाँ पहुँचने के बाद मेरे अंदाजे के विपरीत वह खुश हुआ था। मुझे भी अच्छा लगा था। जाड़े का दिन सो इक्का-दुक्का लोग। सीढ़ियाँ उतरते वक्त वह इतना करीब था कि उसकी साँसें मेरी पसलियों को छू रही थीं। मैं थोड़ा अलग हो कर चलने लगी थी। वह ठिठका था थोड़ी देर को, फिर करीब आ कर पूछा था उसने - 'यार ये जगहें कहाँ से तलाश लेती हो तुम?...'

'क्यों, पसंद नहीं आई?'

'नहीं, बहुत पसंद आई इसीलिए तो...' उसकी फुसफुसाहट मेरी कान के लवों को गर्मा गई थी। मुझे लगा लौट जाना चाहिए। मेरी जिद ने कहा था - क्यों?

'और कहाँ तक चलना है?'

'मैंने कहा था न, इसकी गहराई डेढ़ सौ फुट है। सोचो अभी और कितना नीचे जाना होगा।'

'नीचे जाना मुझे बेहद पसंद है।' उसके स्वरों के रहस्य भाव में ऐसा कुछ था जिससे मैं चौंकी थी पहली बार। पर मैंने अपने चौंकने को एक चौकन्नेपन से ढँका था... '1975 तक इसमें खूब पानी था। पर अब जलस्तर थोड़ा नीचे चला गया है। बस एक मंजिल और, बीचवाली मंजिल से पानी दिखने लगता है...' मैं उसे जताना चाहती थी, मैं वैसी ही हूँ अब भी - निडर, निरपराध और निर्बोध...

मैं सबकुछ भूल कर खुशी से चिल्लाती हुई उसकी तरफ पलटती हूँ - 'प्रशांत, देखो पानी... वो देखो!'

पर प्रशांत की नजरों की तलाश की मंजिल कुछ और थी...। झुक कर उसने एक झटके से चूम लिए हैं मेरे दोनों होंठ... 'पानी ही तो तलाश रहा था मैं भी...'

मेरे होंठ बेबसी से ज्यादा सिले हैं या कि विस्मयविमूढ़ता से, कहना मुश्किल है। एक ही क्षण में बहते जल-सा साफ और पारदर्शी रिश्ता मैला और गँदला हो गया था और मैं मूक - हँसे-रोए बगैर...

मैं कब तक खड़ी थी चुपचाप मुझे नहीं पता। तंद्रा टूटी थी तो उसी की आवाज से... 'कम ऑन, तुम तो ऐसे शो कर रही हू जैसे कि तुम्हें किसी ने पहली बार छुआ हो। शेखर तो साथ ही रहता है न तुम्हारे, फिर...।'

मैं बटोरती हूँ खुद को और कहती हूँ...' शेखर और मैं साथ जरूर रहते हैं पर अकेले नहीं और शेखर ने मुझे कभी इस तरह नहीं...'

उसके होंठों का विद्रूप बढ़ जाता है। व्यंग्य और तिलमिलाहट से चेहरा टेढ़ा और लाल... 'फिर किसी डॉक्टर से जा कर दिखलाओ उसे, मर्द ही है न...?' फिर थोड़ा रुक कर थोड़े संयत स्वरों में कहता है वह... 'तुम्हारी बेतकल्लुफी और संकेतों से ही तो... और तुम ऐसे दिखा रही हो...'

मेरा दुख, मेरी ग्लानि, मेरी पीड़ा सब थहरा देते हैं मुझे। मैं थकी-हारी सी बैठ जाती हूँ वहीं। खूब रोती हूँ। किसके लिए यह मुझे भी पता नहीं।

मेरे रोने से शायद ग्लानि जागी है उसके भीतर... कहता है वह - 'सॉरी, माफ कर दो मुझे।' उसके इस बार के कंधे छूने में कोई लस्ट नहीं है पर कोइ लगाव भी नहीं महसूसती मैं।

जो कुछ मरना था मर चुका है... खाली हो चुकी है वह कोई जगह... और मैं रोना चाहती हूँ बस... मैं कहती हूँ - 'तुम जाओ प्रशांत...'

'और तुम**?...**'

'मैं यहीं रहना चाहती हूँ।'

'यहाँ**?**'

'हाँ।' मेरा स्वर दृढ़ है। वह एक बार देखता है मुझे, फिर चला जाता है बिना मुड़े, रुके। मैं रोती हूँ - खूब रोती हूँ, वहीं बैठ कर... मेरा रोना तर्पण है एक रिश्ते का। तर्पित तो जल में ही करते हैं न सब ग्रहण करता है जल हमारी सारी इच्छाएँ, दुविधाएँ और वह सबकुछ जो हम समेट कर नहीं रख सकते या कि नहीं रखना चाहते। सचमुच गँदला हो आया है पानी का वह हिस्सा।

...मैं सोचती हूँ, यह सपना यहीं से उपजा होगा। अपने भीतर के उस टूटन से। फिर सोचती हूँ इस सपने से अन्वी का क्या वास्ता, उस सपने में अनी क्यों होती है आखिर? मैं एक कमजोर-सा ही सही पर नया तर्क तलाशती हूँ... मैं टूटने नहीं देना चाहती अनी के भीतर कहीं भी, कुछ भी। इसीलिए उस सपने में अपनी जगह अनी दिखती है मुझे, ठीक उसी जगह - हताश, टूटी हुई, निचुड़ी हुई-सी, कभी-कभी रोती-बिलखती, कभी बिसूरती, निस्सहाय, अकेली अनी। उसकी निर्भाव आँखें... और सीढ़ियाँ दर सीढ़ियाँ उतरती, उसे खोजती हुई मैं।

शेखर मुझे इस तरह परेशान देख कर कहते हैं कभी-कभी, अभी तो बच्ची है वह। आज के दौर की बच्ची... कल को बड़ी होगी, उसे तुम्हारा इस तरह परछाईं बनना, पहरे देना भाएगा? कौन बच्चा पसंद करता है यह सब? तुम्हें पसंद था? कल बड़े होने पर वांछित-अवांछित कई तरह के संबंध होंगे उसकी जिंदगी में... देह भी कभी न कभी, कहीं न कहीं... कब तक उसे प्रोटेक्ट करती रहोगी?

...मुझे हैरत होती है, यह सब सुन कर। शेखर मुझे इतना ही समझते हैं।

मैं कहती हूँ और पूरी दृढ़ता से कहती हूँ, आगे क्या होगा, वह क्या करेगी, कैसे जीएगी वह उसका निर्णय होगा। अभी तो मसला है और एक ही है कि वह खुद निर्णय और फैसले लेने तक तो निर्बाध बड़ी हो ले, एक पुरसुकून बचपन जीते हुए। एक ऐसा बचपन, जिसकी स्मृतियाँ उसे कल उदास या दुखी नहीं बनाएँ। उससे जिंदगी को खुशी-खुशी जीने का जज्बा न छीन ले। मेरी कोशिश तो बस इतनी सी है, शेखर!

मैं जब अपनी सहेलियों को भीड़-भाड़ में आस-पड़ोस में, कहीं भी बच्चों को निर्द्वंद्व छोड़ती हुई देखती हूँ तो अच्छा तो लगता है पर हैरत भी होती है। इन्हें कभी भय नहीं

होता या कि मैं ही कुछ ज्यादा... शायद शेखर ठीक ही कहते हैं, अनी के बचपने को बनाए रखने की कोशिश में मैं जो लगतार उससे छीनती रही हूँ वह उसका बचपन ही है... किसी आगत अनहोनी की आशंका में उससे उसका आज छीन रही हूँ मैं।

निधि मेरे थोड़ी करीब है। अपनी बच्ची को ले कर कुछ पजेसिव भी। मैं उससे बाँटती हूँ अपनी भावनाएँ, कहती हूँ कि जब भैया मायके में गर्मी के दिनों में अनी को अपने एसीवाले कमरे में सोने के लिए ले जाते हैं तो बारहा मना करती हूँ मैं और अगर तब भी वो ले ही गए तो मैं तब तक नहीं सोती जबतक अनी को वहाँ से किसी बहाने ले न आऊँ या कि वह खुद उठ कर आ न जाए मेरे पास... बराबर के भाइयों के साथ उसे अकेले न खेलने देना... मैं जानती हूँ इस तरह सोचना गलत है, रिश्तों पर इतना अविश्वास... पर मैं क्या करूँ...। पूछती हूँ मैं उससे कि क्या यह डर उसे भी सताता है, या कि मैं ही... वह पुष्ट करती है मेरे भय को। मुझे थोड़ा सुकून मिलता है।

अनी मेरे बगैर नहीं रह सकती। पाँच साल की बच्ची की उम्र ही कितनी और औकात ही क्या? जहाँ कहीं जाती हूँ, चाहते न चाहते चलना ही होता है उसे मेरे पीछे। इच्छा-अनिच्छा का यहाँ कोई महत्व नहीं रह जाता। चाहे मजबूरी ही सही पर लंबी-लंबी जर्नी, बाई रोड भी। यह समझते हुए भी कि उसे उल्टियाँ आएँगी, चक्कर आएगा, बीमार भी हो सकती है वह। फिर भी... माँ लोगों से मिले, बाहर निकले, घूमने या सेमिनार में बोलने जाए, अन्वी को बेहद पसंद है। कहीं से कोई बुलावा आया नहीं कि अनी का कूदना शुरु। मुझे माँ को बोलने के लिए ले कर जाना है... मैं अपनी मम्मा की सबसे अच्छी फ्रेंड हूँ न! मैं मम्मा को फलाँ जगह ले कर जा रही हूँ। अनी अपनी सहेलियों से ऐसी ही बातें करती है...

विजयनगरम जाने की बात से वह ऐसे ही फुदक रही थी और उसकी फुदकन मेरे भीतर भय जगा रही थी। दस घंटे की कार की सवारी, फिर ट्रेन, फिर तीन दिनों का सेमिनार। कैसे जाऊँगी मैं? कैसे सँभाल पाऊँगी उसे? पर सब उसकी आँखों की उसी चमक की खातिर...

होटल में उसका बेड अलग है। मैं समझाती हूँ उसे, माँ को हर जगह ले के जानेवाली बच्ची तो नहीं हो सकती न! अब तुम्हें बड़ों की तरह अकेले सोना भी सीखना होगा। वह घबड़ाती है, परेशान होती है पर मान जाती है धीरे-धीरे...

दिन भर फुदकती रहती है वह, ऊपर-नीचे, दूसरे कमरे तक, दूसरे लोगों के पास। उन्हें कविताएँ सुनाती है। मैं अपनी साँकल थोड़ी ढीली कर देती हूँ। वह खुश रहे, मुस्कराए बस...

...पर मुश्किलें हैं, और दूसरी हैं। अनी की हर पल कुछ न कुछ बोलते रहनेवाली जुबान बेचैन है। बोले तो किससे और क्या भाषा की दीवार चीन की दीवार हुई जाती है। फिर भी बगैर बोले-बतियाए वह बाँध ही लेती है लोगों को अपने नटखटपन से। साथ आए हिंदीभाषी लोगों को वह घोंट-घोंट कर कविताएँ पिलाती है।

अन्वी खुश है। अनी दौड़ती-भागती रहती है, बातें करती रहती है। मेरा डर भी घूमता रहता है मुझसे आँख-मिचौली का खेल खेलता हुआ। अनी स्वतंत्र है। पर यही तो है डर का सबब भी। मुझे पूरे दो सत्रों में मंच पर रहना है। बेचारी अनी... पहला दिन बीत जाता है, निःशंक दूसरा... मैं मंच से रह-रह कर देख रही हूँ, ऊबी हुई है वह शायद लंबे-लंबे वक्तव्यों से। अपनी मम्मा की बारी की प्रतीक्षा में है वह। इशारे-इशारे में कहती है वह - 'मम्मा आप कब बोलोगी?' मैं नजरें झुका लेती हूँ कोई देख न ले। समझ न ले इस मौन वार्तालाप को। मंच पर बैठने का अनुभव अभी बहुत नया-सा है। सो उसकी गरिमा का ध्यान थोड़ा ज्यादा। अपने से ज्यादा अपनी बेटी की खुशी में खुश हूँ मैं। उसकी आँखें खुशी से चमक रही हैं।

चमकविहीन आँखें कैसी होती हैं? कैसी होती है उनकी उदासी मैं जानती हूँ... मैं समझती हूँ... अनी के चेहरे पर उन आँखों की कल्पना भी असहनीय है मेरे लिए।

अनी कुछ देर तक दिखने के बाद गायब है। मैं सोचती हूँ, वह होगी इधर-उधर कहीं। मेरी बारी आती है चली जाती है। पर अनी नहीं आती। यह अनहोनी ही है। ऐसा कैसे हो सकता है आखिर। मैं घबड़ाती हूँ, बेचैन होती हूँ पर प्रयत्नशील भी कि ये बेचैनी चेहरे पर न आ जाए। मैं उठ कर देखना चाहती हूँ पर लगता है यह मंच की अवज्ञा

होगी। मैं कुछ देर बाद धीरे से मंच से खिसक लेती हूँ... मैं ढूँढ़ती हूँ उसे हर तरफ, अपने कमरे में, परिचितों के कमरों में। कान्फ्रेन्स रूम के पीछे-आगे। रिसेप्शन पर पूछती हूँ, बच्ची है कुछ खरीदने न निकल गई हो... 'पीला फ्रॉक पहने कोई बच्ची बाहर गई है क्या?...' 'कौन?...' 'आपकी बच्ची?...' 'नहीं...' घबराती हूँ मैं, अब कहाँ कितने सारे डर, कितने सारे सपने सब इकट्ठे हो कर मेरे आँसुओं में निकलने लगते हैं।

मुझे खयाल आता है तलगृह का... कल बुक एक्जीवीशन तो उसी में था। तलगृह का खयाल मन में जैसे सारी आशंकाओं को जगा जाता है। मेरे हाथ-पाँव सब ठंडे मेरे लिए। कदम उठाऊँ तो कैसे, और जाऊँ तो कहाँ?

सीढ़ियाँ उतरते हुए मुझे खयाल आता है सपनों का, ऐसे ही तो बस सीढ़ियाँ-सीढ़ियाँ। मैं जिसे अब तक बावड़ी की सीढ़ियाँ समझती रही... मैं बेसमेंट के अँधेरे में टटोलती-टोहती हूँ, हर टकराहट मन में बेचैनी पैदा करती है। फिर शांत होती हूँ यह सोच कर कि अनी यहाँ नहीं है... बेचैनी फिर बढ़ती है, अनी यहाँ भी नहीं है। फिर कहाँ है आखिर?

मैं दौड़ती हूँ ऊपर की तरफ। कान्फ्रेन्स रूम के पास तक पहुँचती हूँ... अनी सामने से आती दिखती है। हाथों में जलेबियाँ लिए और किन्हीं एक महिला की उँगलियाँ थामे हुए। मैं चीख पड़ती हूँ, गले लगा लेती हूँ उसे... 'कहाँ चली गई थी मुझे बताए बगैर।'

वह शांत भाव से कहती है - 'मम्मा, आप तो ऊपर बैठी थीं न फिर आपसे कैसे कहती! और आपने ही तो कहा था कि वहाँ बातें नहीं करते।'

'फिर भी आप इशारे से कह कर जातीं।' मैं एक बेचारा-सा ही सही तर्क ढूँढ़ने की कोशिश करती हूँ।

'मम्मा आप तो मुझे देख भी नहीं रही थीं। देखतीं तब न**!**'

वह महिला हँसती है। मुझे पहले-पहल लगता है मुझ पर हँस रही है वो। मैं अपने आप से कहती हूँ, नहीं वह ऐसे ही हँस रही है... वो कहती है - 'बच्ची का मुँह मीठा करवाने ले गई थी। बहुत ही अच्छी कविताएँ सुनाती है। मैं इसे इसकी प्रतिभा के लिए प्रोत्साहित

करना चाहती थी।' अहिंदीभाषी लोगों की शुद्ध-शुद्ध किताबी हिंदी में कहती है वह, फिर आगे की बात अंग्रेजी में... 'बाहर चॉकलेट की दुकानें बंद थीं, दोपहर के कारण, सो यहीं से जलेबियाँ दिलवा दीं। आप भी चलिए, भोजन लग चुका है।'

मैं पहले शर्मिंदा होती हूँ फिर धीरे-धीरे तटस्थ - 'शुक्रिया।'

रात हम माँ बेटी जब घूम-फिर कर कमरे में आती हैं तो अनी सोते-सोते मेरे गले में बाँहें डाल कर पूछती है, 'मम्मा, आप इतना डरती क्यों हैं?'

मैं बहुत देर तक चुप रहने और सोचने के बाद कहती हूँ... 'पता नहीं बेटे।'

अनी सो चुकी है। मैं धीरे से उसे अलगा कर उसे उसके बिछावन पर रख आती हूँ। तकिया कंबल सब लगा कर।

बत्तियाँ बंद कर चुकी हूँ मैं। कोई है जो अँधेरे का फायदा उठा कर मुझे कहीं ले जा रहा है, सीढ़ी-दर-सीढ़ी जैसे अपने भीतर ही उतर रही हूँ मैं... अँधेरे में कई दृश्य गड्डमड्ड हैं... क्या उस 'पता नहीं' के जवाब में...?

अनी का प्रश्न, अपना यह एकांत और अँधेरा सब मिल कर जैसे मुझे सामना करने का साहस देते हैं, अपने भीतर की उन अंधी बावड़ियों का जहाँ जाने से मैं खुद डरती हूँ... जिससे नजरें चुराते-चुराते भागती हूँ मैं और अनी के लिए अपने भय के लाख-लाख दूसरे कारण और तर्क ढूँढ़ती हूँ...

...नन्हीं सी मैं घर के उस ड्राइवर की गोद में हूँ जो सबका प्रिय है। जो अक्सर मुझे गोद में बिठा कर रखता है, जाँघों पर अपनी पूरी ताकत से दबा कर - जहाँ मेरा दम घुटता है...

ट्यूशन पढ़ानेवाले भैया की वो गंदी सी चुम्मियाँ जिनमें वो होंठ गालों से नहीं सटाते, होठों पर रगड़ते हैं, कस कर...

उस दूर के अधेड़ जीजा जी का पाँव दबवाने के बहाने जगह-जगह उँगलियाँ फिराना...

मैं चुप थी और चुप होती गई थी। कोई प्रतिरोध नहीं करना स्वभाव का एक हिस्सा बन गया हो जैसे। बस दुख... भीतर तक पसरता एक अजनबी, अनचाहा और अनजाना सा दर्द।

मैं सोचती हूँ, घर में इतने-इतने लोग... किसी को तो समझना था, किसी को बचा लेना था मुझे... खास कर माँ को। पर उतने भरे-पूरे परिवार में किसी को इतनी समझ नहीं थी। किसी के पास इतना वक्त नहीं था। सबके अपने हिस्से के काम, सबकी अपनी एक दुनिया। मैं फूट-फूट कर रोती हूँ, सिसकती हूँ, सिसकती रहती हूँ...

मैं उठ कर अनी के पास चली जाती हूँ। सुबकते-सुबकते मैं कब सो गई हूँ, अनी को अपनी बाँहों के घेरे में लिए हुए मुझे पता नहीं।

...नींद में फिर वही सपना आया है लेकिन इस बार कुछ बदले रूप में। सपने में वैसी ही कोई बावड़ी है, कोई नीचे उतर रहा है चुपचाप, उदास... धीरे-धीरे... ध्यान से देखती हूँ, यह मैं हूँ और बावड़ी है, गंधकवाली बावड़ी, जिसे सुल्तान इल्तुतमिस ने कुतुबुद्दीन एबक के इस्तेमाल के लिए बनवाया था। कहते हैं, इसकी पानी में गंधक की मात्रा बहुतायत में है और यह चर्मरोगों और बहुत से अन्य रोगों के लिए रामबाण का काम करता है... नीचे उतर कर उलीच-उलीच कर उसके पानी से अपना अंग-अंग धोती हूँ, सोचती हूँ मन-ही-मन - शायद मेरे भीतर के तलगृह में छुपी इन यादों को भी धो कर मिटा सके यह... मै निर्मल हो लूँ ऐसे कि मन में कुछ भी न बचा रह जाए, कुछ भी नहीं।

https://www.hindiadda.com/bavadi/